Chapter-6

उपसंहार

स्वाभाविक रुप से जीवमात्र सुखान्वेषी है । शाश्वत सुख अथवा आनंद जीव का स्वरुप है । वह इश्वरीय अंश है ।

इश्वर अंश जीव अविनाशी ।
चेतन अमल सहज सुखराशी ।

स्वाभाविक है कि नदी महासागर के प्रति ही गतिशील होगी । इस प्रकार सहज सुखधाम जीव का परम सुखधाम परमात्मा के प्रति आकृष्ट होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

आनंद का केन्द्रबिन्दु क्या है ? उसकी निरंतर, अबाधित धारा बहाने का साधन कौन है? यह बातें विचारणीय है ।

श्रुति में लिखा है –

''यो वै भूमा तदमृतमय यदल्पं तन्मर्त्यम्'' ।

अर्थात् पूर्ण में ही सुख है । जो अल्प है वह दुःख और मृत्यु है । इसलिये सद्अभ्यास और सत्संगसे सांसारिक सुखों को त्यागकर महापुरुष अक्षीण सुख की खोज कते हैं । और भगवन्नखमणि चन्द्रिका के प्रकाश में नित्यानंद का अनुभव करते हैं, यह नित्यानंद का अनुभव ही भक्ति है ।

इस भक्ति के विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थ एवं परिभाषा देने का प्रयत्न किया है । वेदकाल से लेकर आजतक विद्वज्ज्नोनें उनके स्वरुप की चर्चा की है परंतु मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि भक्ति के उद्‌भव का इतिहास मानवसृष्टि – जीवसृष्टि के जितना ही पुराना है । अर्थात् जहां भी मानव पैदा हुआ वहां भाव अनिवार्य रुप से पैदा होता ही है ।

भाव से जीव पर नहीं रह सकता है, साहित्यकारोंने अनेक प्रकार के भावों का वर्णन किया है, यहां अन्य भावों के विवरण में न पड़कर हम सिर्फ भक्तिभाव की ही बात करें तो भी इतनां ही स्पष्ट है कि मानवसृष्टि के साथ साथ ही भावसृष्टि पैदाहुई और अन्य भावों की भांति आदर, प्रेम, स्नेह, पूज्यभाव, सेवाभाव आदि भी प्रकट होते ही रहे, जिसे आगे चलकर विविध प्रकार और कक्षा में बांटकर हमारे विद्वानोने पंडितों ने उस भावों को और भावों की विविध रुप से अभिव्यक्ति को 'भक्ति' नाम दिया। जिनमें व्यक्ति व्यक्ति या वस्तुमयता से उपर उठकर इश्वरमय बन जाता है।

हमारी संस्कृति ने तो व्यक्तिगत रुप से भी भक्तिभाव का स्वीकार किया है। जैसे कि पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरुभक्ति आदि। उपरांत वात्सल्य भक्ति के रुप में पुत्र भक्ति आदि का भी स्वीकार किया है। और इस प्रकार की भक्ति तो पशुपक्षी में भी हम देख सकते हैं। बछडा गाय से और गाय बछडे से प्यार करती है, चीड़ियाँ अपने बच्चे की चोंच में दाने डालकर उन्हे खिलाने का प्रयत्न करती है, पक्षी चोंच में चोंच डालकर प्रेम करते हैं, ये सभी लौकिक भक्तिभाव के ही उदाहरण है परंतु हम ईश्वर के प्रति जो भक्ति होती है उसी भक्ति को शाश्वत और श्रेष्ठ मानकर उसकी सराहना करते हैं। क्योंकि उसका सुख क्षणिक नहीं होता है परंतु अनंत है। उसमें स्वार्थभाव नहीं परंतु परमार्थ भाव होता है। उसमें अहं नहीं परंतु शरणागति होती है। उसमें सेवा के बाद कुछ पाने की भावना नहीं परंतु पिघल जाने की बात होती है।

मेरा मानना है कि जबसे मनुष्य को अपनी असमर्थता और परमात्मा की शक्ति के सामर्थ्य का परिचय हुआ होगा उस क्षण से वह अज्ञान शक्ति के प्रति मनुष्य के हृदय में भक्तिभाव प्रकट हुआ होगा । ऐसे क्षणों में वह लौकिक भाव से हटकर परमप्रेम रुप परमात्मा के प्रति आकृष्ट हुआ होगा और बाद में उसी की उपासनामें लग गया होगा । जिसे हमारे विद्वानो ने 'भक्ति' नाम दिया और सृष्टि के जीवनपोषक तत्वों के प्रति अहोभाव से भी परम तत्वों प्रति भक्तिभाव प्रगट हुआ होगा ।[१]

कालान्तर में मानवता की प्रतिष्ठा हेतु अवतारवाद की प्रतिष्ठा हमारे मनीषियों द्वारा हुई । ऋषियों ने सोचा होगा कि अज्ञातशक्ति के रुप में अथवा प्रकृति के रुप में अथवा अग्नि, वायु, जलादि जीवनदायी तत्वों को पूज्य, देव या आराध्य के रुप में स्वीकार करके उनकी भक्ति की जाती है तो मनुष्य तो परमात्मा का उत्कृष्ट सृजन है इसकी अवहेलना क्यों ? और सिर्फ मनुष्य ही नहीं परंतु बुरी प्राकृत सृष्टि पांचो सृष्टि पांचो तत्वों से बनी है तो मनुष्येत्तर जीवों में भी वही परमात्मा की शक्ति का संचार है । ऐसा सोचकर मच्छ, कच्छ, वाराह, नृसिंह, हंसादि जलचर, थलचर और नभचर्सीद जीवों को भी अवतार की उपाधि प्रदान की और परमात्मा सर्वोत्कृष्ट मनुष्य में प्रमुख दशावतारों की अवधारणा हुई । इन प्रमुख अवतारों में राम और कृष्ण ने समाज को सबसे ज्यादा प्रभावित किया ।

---

१. वेदान्त की दृष्टि से विश्व ब्रह्माण्ड की परम शक्ति को बल, चैतन्य, आत्मा, सत्-चित्-आनंद आदि कहा जाता है, किंतु इन सबके अनतर में जो मूल वस्तु है, वह शक्ति है । उसी शक्ति को देवी-देवता के रूप में पूजा जाता है । यही परम शक्ति सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कार्य करती है । इन तीन कार्यों के लिये उस परम शक्ति की तीन शक्तियाँ है, जिन्हे ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा जाता है । वेदो में आकाश को ब्रह्म (खं ब्रह्म) कहा गया है । उस आकाश में स्थित उसकी अवान्तर शक्तियों को पुराणों मे इन्द्र (मेघशक्ति), वरुण (जलशक्ति), अग्नि (विद्युत शक्ति) और वायु (पवनशक्ति) कहा गया है ।

– पंडित श्री देवदत्त शास्त्री
कल्याण भक्ति अंक, पृ. ६६

इस शोधप्रबंध में मैंने भक्ति और दर्शन के विषय को स्पष्ट करने के लिए रामचरित मानस का प्रमुख आधार लिया है और मानस में जहाँ जहाँ भक्ति और दर्शन का अनुशीलन हुआ है उसमें मेरे विचारों एवं भावों को जोड़कर यंत्रवत् जीवन जीने वाले मनुष्य को पुनः भक्ति और दर्शन विषयक सिद्धांतों के आधार पर पुनः आध्यात्म जगत के आनंद का आस्वादन कराने का नम्र प्रयास किया है ।

वर्तमान में भारतीय जीवन का कोई भी पक्ष राम और रामकथा से अछूता नहीं रह पाया है, वह चाहे दर्शन हो या भक्ति, धर्म हो या संस्कृति, इतिहास हो या लोककथा । परंतु राम स्थान कहीं न कहीं तो मिलेगा ही । राम के मर्यादावादी मूल्यों और उच्च आदर्शों ने केवल भारतीयों को ही नहीं परंतु पश्चिम के भौतिकवाद में डूबे हुए मानव जंतुओं को भी प्रभावित कर रक्खा है । रामकथा के सूत्र हमें ठठ वेदो में से प्राप्त होते हैं ।[१]

वेदांतर्गत रामकथा के सूत्रों को भारतवर्ष में आदिकवि वाल्मिकीने कथा का स्वरूप दिया । और श्रीराम को संसार का सर्वश्रेष्ठ मानव, उदात्त चरित्री,

---

१. यस्येक्षाकुरुप व्रते रेवान् मराप्येधते । ऋ. सं. १०/६०/४

- त्वा वेद पूर्व इक्ष्वा को यम् । अथ. सं. १९/३९/९

- चत्वारिंद् दशरथस्य शोणाः सहस्त्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति ।

ऋ.सं. १/१२६/४

- प्र तद्दुःशी मे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मथवस्तु ।
  ये युकत्वाच पञ्च शतास्मयु यथा विश्वाव्येषाम् ।

ऋ. सं. १०/९३/१४

- अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
  तस्यां हिरण्यमः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः

अथ.सं. १०/२/३१

परमादर्श और महामानव के रुप में साक्षात् नारायणरुप प्रस्तुत करके भारतीय संस्कृति का केन्द्र बना दिया ।[1] आदि कवि वाल्मीकि के बाद वेदव्यासने श्रीमद् भागवत् पुराण में २४ अवतारों में रामावतार को स्थान देकर रामकथा का विस्तृत वर्णन किया और तब से लेकर आजतक संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देश की अनेक भाषा तथा बोलियों में राम और रामकथा का प्रचार प्रसार हुआ । इनमें से प्रचलित रामायणों में वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, पउमचरिउ, कम्ब रामायण, रंगनाथ रामायण, बरवे रामायण, बंगला रामायण, असमीया रामायण, उडिया रामायण, भावार्थ रामायण, गिरधर रामायण, पंजाबी रामायण आदि गिनाई जाती है ।[2]

हमारे लिए यह गौरव की बात है कि केवल भारतीय भाषाएँ एवं बोलियों में ही नहीं परंतु विदेशों में भी राम कथाने गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है जिनमें तिब्बती रामायण, खेतानी रामायण, हिन्देशिया की प्राचीनतम रामकथा, हिन्देशिया की अर्वाचीन रामकथा, मलयन की अर्वाचीन रामकथा, जावा की अर्वाचीन रामकथा, हिकायत सेरीराम में वर्णित रामकथा, पातानी रामकथा, जावा के सेरत काण्ड की रामकथा हिन्द, चीन, श्याम और ब्रह्म देश की रामकथा, हिन्द चीन के समेर साहित्य की सर्वाधिक कलात्मक रचना रामकेर्ति में रामकथा, श्यामदेश की राम कियेन की विस्तृत राम कथा तथा रसियन रामकथा इत्यादि का समावेश होता है ।[3]

---

१ ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा
रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा ।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनामको वा
स्थातुं न शक्ता युधि राघवास्य । वा.रा. ५/५१/४४

– पिशाचन् दानवान् पृथिव्याश्चैव राक्षरास्
अङ्गुल्यग्रेण तात् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर ॥ वा. रा. ६/१८/२३

२. रामचरित मानस तुलनात्मक अध्ययन अनुक्रमणिका और "मानस मीमांसा" पृ. २४९ से २८७, पृ. २८८ से ३११, पृ. ३३१-३२२, ३२३ से ३३२

३. रामायण मीमांसा – पृ. ३३३ से ३७२

इस प्रकार भक्ति का मूल स्त्रोत वेद है वेद में कई स्थानों पर भक्ति विषयक पुष्टि होती है ।

वेद में भक्त के हृदय में प्रकट होनेवाले रस को 'सोम' कहा है[1] अर्थात् यहां सोम औषधि की बात नहीं है । ऋग्वेद के इस मंत्र में कहा है कि कोई पिसी हुई सोम औषधि को ही पीकर यह न समझ ले कि मैने सोमपान किया है । जिस 'सोम' का पान ब्राह्मण लोग करते हैं, उसे सांसारिक भोगों में आसक्त आदमी नहीं पी सकता।

वह 'सोम' कौन सा है ? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि वह सोम सब की रक्षा करनेवाला भगवान है । जो 'स्वतः' – अपने भक्त के हृदय में प्रकट होता है – इस प्रकार सोम का भावार्थ हुआ प्रभु के भक्त का भक्ति रस में भीग जाना ।[२]

तात्पर्य यह है कि 'भक्ति' के लिये वेद में 'सोम' और 'भक्त' के लिये 'अथर्वा', 'स्तोता', 'वसिष्ठ', 'तुष्टवास' आदि अनेक शब्द मिलते हैं ।[३-४-५-६]

---

१. सोमं मन्यते पयिवान यत्सम्पिषन्त्योषधिम्,
सोमं यं ब्राह्मणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन् । ऋग्वेद

२. उदीचीदिक् सोमोऽधिपतिः रक्षिता ॥ ''

३. आथर्वण सुहि देवं सवितारम् । ''

४. न मे स्तोतामतीपा न दुर्हितः स्वादग्रे न वापया ॥

५. एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः

६. प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः ।

ऋग्वेद में सख्य भक्ति का भी उदाहरण बडे मार्मिक रुप से मिलता है।

एक भक्त भगवान की उपासना करता है, उसे प्रभु का साक्षात्कार नहीं होता, वह निराश होकर भगवान से मन ही मन कहता है कि 'हे प्रभो ! मुझे दर्शन क्यों नहीं देते हो ? आप मेरी भक्ति से प्रसन्न नहीं हो ? तुम किसे अपना बंधु बनाते हो ? तुम किसके ब्रह्म यज्ञ से प्रसन्न होते हो ? किसके हृदय में तुम अपना निवास बनाते हो ?

भक्त की इस प्रार्थना से भगवान संतुष्ट होते हैं, और साक्षात्कार कराके कहते हैं -

'भक्त । तुम्ही मेरे बंधु हो, अपने ब्रह्म यज्ञ से तुम्ही मुझे प्राप्त करते हो मैं तुम्हारा ही सखा हूँ । मित्र! निराश मत हो । चलते चलो, जिस राह पर चल रहे हो वह दिन दूर नहीं, जब तुम मुझे प्रतिक्षण देखा करोगे ।[१-२]

प्रातःकाल ओम सायंकाल के भक्ति विधान जो आजकल प्रचलित है वह भी ऋग्वेद के सातवे मंडल के ४१ वें सूक्त में है ।[३]

---

१. कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वधरः ।
को ह कस्मिन्नसि श्रितः । ऋग्वेद १/७५/३

२. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः सखा सखिभ्य ईड्याः ।
ऋग्वेद १/७५/४

३. प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम व पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजाचिद् यभगंभक्षीत्याह ॥

अथर्ववेद में भी १९/५५ सूक्त में ६ मन्त्र है । जिनमें भक्त, भगवान की प्रार्थना समय और जागते समय करता है, इसकी इस प्रार्थना में मंगलदत्ता भगवान के प्रति जो भावनाएँ व्यक्त की गई हैं, वे सजीव और साकार है ।

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्यदात ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषम ॥

पौराणिक 'स्मरण' 'किर्तन' आदि नवधा भक्ति का मूल उद्‌गम भी वेद है । केवल नवधा भक्ति ही नहीं परंतु इश्वर के अतिरिक्त देवताओं की भक्ति भी वेद में प्रचूर मात्रा में उपलब्ध है ।

निरुक्तकार यास्क मुनिने लिखा है कि परमात्मा की विभिन्न शक्तियां ही देवता है । दूसरे शब्दों में परमात्मा की मुख्य शक्तियों के प्रतिक देवगण है।[१]

वेदों के युग में अग्नि, वायु, सूर्य मुख्य देवता थे । निरुक्तकार ने देवता का अर्थ प्राण-शक्ति-संपन्न लिखा है । अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र, सूर्य आदि जितने देवता है सब बलरुप है । इन सभी देवताओं के अंतर में ऋत (कारण सत्ता) विद्यमान रहता है । इश्वर ऋत सत्यमय है यही सूक्ष्म तत्वों का दर्शन स्थूल रुप में (सगुण अथवा साकार अथवा मूर्तिपूजा) देखकर भारतिय संस्कृति में देवताओं की पूजा-उपासना आदि का प्रारंभ हुआ होगा ।

---

१. महाभाग्याद देवताया एक एव आत्मा बहुधा
स्तूयते । एके स्यात् मनोऽन्ये प्रसन्नानि भवन्ति ।

- निरुक्त ७/४/८-९

वेद के बाद उपनिषदों में भी भक्ति का दर्शन एक या दूसरे रूप से होता है । तैत्तरिय उपनिषद में मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो, अतिथि देवो भव, कहकर भगवान की भांति ही माता पिता आचार्य आदि की सेवा करने का बोध दिया गया है ।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्री सूक्त में एवं अथर्ववेद के देव्यथर्वशीर्ष में भगवती की भवित और पूजा का विकसित रुप स्पष्ट लक्षित होता है ।

ऋग्वेद में विष्णु सर्वज्ञ माने गये हैं । ''त्रिवक्रमो विश्वस्य'' और वरुण आकाश के देवता–'भुवनस्य राजा' के रूप में माने गये हैं । तैतरीय – आरण्यक ने उन्हे प्राचीन ऋषि नारायण का नाम दिया वही नारायण आगे चलकर पुराण में वासुदेव नाम से प्रसिद्ध हे । जिनकी पूजा विख्यात वैयाकरण पाणिनि के समय (इसा की ५० वर्ष पूर्व) से चल रही थी । गुप्त सम्राट भी भगवदभक्त कहलाता था । गुप्तकाल में विष्णु और लक्ष्मी की पूजा व्यापक थी ।

उपनिषदों में अन्य उपनिषदों के साथ साथ दूर्गोपनिषद जैसी उपनिषदों में शक्ति को दुर्गादेवी – कालरात्री के रुप में स्वीकार किया इस प्रकार विष्णु और शिव की उपासना के साथ साथ शक्ति की उपासना भी थी ।

आगे चलकर मार्कण्डेय, पद्म, कूर्म, भागवत, नारद आदि पुराणो तथा बुध्धचरित, रामायण, महाभारत आदि इतिहास में एवं योगवसिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन, पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, न्याय कुसुमाञ्जलि वाक्यप्रदीप आदि दर्शन ग्रंथो में एवं मालती माधव, कुमार संभव, दशकुमार चरित, नागानन्द, कर्पूरमञ्जरी, कादम्बरी आदि काव्यो में शक्ति भक्ति उपासना के अनेक बीज और विधान मिलते हैं।

भक्ति विधान में नारद भक्ति सूत्र और शांडिल्य भक्ति सूत्र दो का प्रमुख स्थान है । इसमें सरल सहज फिर भी विस्तृत रुप में भक्ति का विवेचन दिया गया है ।

वेद के बाद उपनिषद, उपनिषद् के बाद पांचरात्र, इसके बाद पुराण, पुराण के बाद नारद और शांडिल्य भक्ति सूत्र – आदि के द्वारा भारत में भक्ति के बीज पुष्ट होते गये ।

भक्ति के विषय में राम और कृष्ण दो केन्द्रबिंदु रहे । यदि हम एसा कहे कि रामायण और महाभारत के बाद यदि भक्ति के क्षेत्र में सबसे ज्यादा योगदान रहा हो तो ये है भागवत का ।

भागवत पुराण में श्री कृष्ण को अद्वितीय बालरुप प्रेमीयुवक, राजनीतिज्ञ और तत्वद्दष्टा के रुप में माना गया, इतना ही नहीं परंतु पूर्वावतार स्वयं भगवान के रुप में स्थापित किया गया । जो आजतक एक सूत्र के रुप में हमारे सामने आते हैं कृष्णं वंदे जगत् गुरुम् ।

कृष्ण का और राम का केवल भक्ति क्षेत्र में ही नहीं परंतु साहित्यिक क्षेत्र पर भी गहरा प्रभाव पड़ा । उनकी भावनाओं तथा प्रसङ्गाभिव्यक्ति को सभी प्रदेशों के पौराणिकोने घर घर पहुँचा दिया ।

ईसा की दसवीं शताब्दी से बहुत पहले भारत में भक्ति के बीज पल्लवित होकर पुष्पित और फलित होने लगे उसकी व्यापकता बहुत ही बढ़ गई ।

दक्षिण में विष्णु एवं संकर्षण के मंदिर निर्मित हुए । अज्ञेयवादी एवं साधु जो अलवार नाम से प्रसिद्ध थे जो घूम-घूमकर भजन गाते थे । वे भगवान के पीछे पागल हो गये थे ।......... उन्होंने नारायण भक्ति का अनुसरण किया, शिक्षा दी, जो प्रगाढ़ प्रेम और आत्म समर्पण के द्वारा ही प्राप्य थी और उसमें मनुष्य के दर्जा, रुचि और संस्कृति का सवाल नहीं था । उनके शक्तिपूर्व गान सर्वप्रिय हो गये और उन गानो का नाम 'वैष्णववैद' पड़ गया।[१]

---

१. कल्याण – भक्तिअंक – कन्हैयालाल मुन्शी
लेख भारत में भक्तिरस का प्रभाव

अलवारों के पश्चात् भक्ति को तत्वज्ञान का रूप देकर वही काम आचार्यों ने उठाया। इ.१००० में यमुनाचार्य ने प्रपत्ति के सिद्धांत को प्रस्तुत किया जिसका अर्थ है भगवान को आत्मसमर्पण कर देना। उनका प्रपौत्र रामानुज उनके शिष्य बने और उनके उत्तराधिकारी बने। उन्होंने भक्ति आंदोलन को दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की और एकेश्वरवादी धर्म के स्तर पर पहुँचा दिया।

रामायण और महाभारत के बाद अत्यंत प्रेरणादायी कोई ग्रंथ रहा हो तो वह है भागवत। जो बात हम आगे देख चूके इस भागवत भक्ति के ही आधार पर अनेक संतो ने दार्शनिकता और भक्ति का सुमेल साधकर नयी विचारधाराएँ प्रवाहित की। और अनेक संप्रदायों का भी आविर्भाव हुआ।

११५० में निम्बार्काचार्य ने राधा-कृष्ण की भक्ति पर ज़ोर देनेवाले नये संप्रदाय की स्थापना की।

११९२ से १२७० ई. ने मध्वाचार्यने इससे भी अधिक सरल वैष्णव सिध्धांत की स्थापना की।

ज्ञानेश्वर के गुरु मानेजानेवाले विष्णु स्वामी को श्री वल्लभाचार्यने गुरु बनाया और पुष्टिमार्ग का प्रचार शुरु हुआ।

माना जाता है कि विष्णुस्वामी ही एक और शक्तिशाली शिष्यने राधाकृष्ण संप्रदाय चलाया। यद्यपि उनके संबंध में बहुत कम बाते मालुम होती है। फिर भी यह तो स्पष्ट है कि भक्ति की महाराष्ट्रीय विचारधारा के प्रमुख ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और बाद में तुकाराम हुए जिन्होंने कृष्ण रुक्मणि की उपासना की। उनकी भक्ति में पति पत्नी के विशुद्ध और निर्मल प्रेम का प्रतीक कान्ता भक्ति को माना गया।

बंगाल में श्री चैतन्य ने भी इस भक्ति के विकास और प्रचार में बहुत काम किया।

११वीं शताब्दी में उमापतिने और १२वीं शताब्दी में गीतगोविंद के रचयिता जयदेवने उच्च कोटि की कलात्मक इन्द्रियासक्ति सूचक कृष्ण संबंधी कविताएँ लिखीं।

गीतगोविंद की भाषा, भाव, लावण्य और छंदप्रवाह के कारण १०० वर्ष में पूरे देश के भक्तो में आकर्षण का स्थान बन गया और उच्च श्रेणी में स्थान भी लिया ।

चौदहवीं शताब्दी में बंगाल स्थित विद्या के प्राचीन केन्द्र नवद्वीप में बौध सन्यासियों ने प्रेम को ही निर्वाण का एकमात्र साधन बताते हुए उपदेश दिया।

इसी समय में प्रखर कवि चंडिदास हुए जिनके प्रेमगीत (राधा-कृष्ण विषयी) सन्यासीयों और माध्याचार्य के वैष्णव शिष्यों के कानों में भी गुंज रहे थे । जिससे भी भक्ति की पुष्टि हुई ।

१५१० में चैतन्य के शिष्य लोकनाथ ने चैतन्य संप्रदाय की स्थापना वृन्दावन की पवित्र कुञ्जों में की।

१५१६ में नवाब के दो मंत्रियों ने वैष्णव धर्म अंगीकार करके मंदिर का कार्यभार सम्हाला उन दोनों का नाम रुप और सनातन था ।

उनके चचेरे भाई जीव गोस्वामी ने वृंदावन को भक्ति और विद्या का सजीव केन्द्र बना दिया । और श्रीकृष्ण के प्रति नववधू के से अमर अनुराग की तरह प्रेम करना एक राष्ट्रीय धर्म बन गया ।

इस प्रकार इस देश में भक्ति एक अतिशय सर्जनात्मक शक्ति बन गयी। जिनसे घर घर में प्रेम और उछाह की लहरें उठने लगीं और मानो आर्य संस्कृति पुनर्जीवित हो उठी ।

१५५४ में तुलसीदास का जन्म कालिंदी तट पर हुआ । जो रामभक्ति प्रचार के दिव्य संदेशवाहक बनकर पृथ्वी पर अवतरित हुए । जिन्होंने सं. १९३१ में कलम उठाकर पूरे देश को राम के रंग में रंग डाला ।

१६वीं शताब्दी में एक और उत्तर प्रदेश में तुलसी ने भक्तिपथ में नये प्रेरणा पुष्प बिछाये तो दूसरी और भक्ति की वह प्रेरणा वृंदावन से गुजरात और राजस्थान तक फैल गई ।

संत मीरां और जूनागढ़ के नरसी महेता शायद कृष्ण भक्ति से ही ज्यादे प्रभावित हुए ।

संत मीरा अंत में तो गुजरात में आकर काठीयावाड के द्वारकाधीश में ही समा गई । उसका प्रेम में दिवानापन और कृष्ण मिलन की उत्कंठा के भजन आज भी लोगों के कानो में गुंजते हैं ।[१-२]

भक्त नरसी के पदो में भक्ति के साथ दर्शन का अनूठा सामंजस्य है ।[३-४]

उसके बाद भी कई संत और अवतारी पुरुष जैसे की अखा, दयाराम आदि भक्त कवि और स्वामीनारायण जैसे ने भक्ति प्रवाह को अस्खलित रुप से बहाने में बड़ा योगदान दिया ।

केवल हिन्द ही नहीं परंतु जैन, बौद्ध आदि संप्रदायो में भी भक्तिप्रवाह अविरल रुप से बहता है । भक्ति का क्षेत्र भी फैलता रहा और भारत की सीमा पार करके तिब्बत और समस्त पूर्वि एशियाई देशो तक विस्तृत हो गया।

अर्वाचिन युग में टैगो, तिलक, गांधी, श्री अरविंद आदि ने भी एक दूसरे रुप से भक्ति का प्रचार प्रसार किया और इस तरह भक्ति भागीरथी का अजस्त्र प्रवाह आदि काल से आजतक जनमन को आसिंचित करता रहा है।

---

१. तेरी मैं तो प्रेम दिवानी
   मेरा दरद न जाने कोई.......

२. मुखडानी माया लागी रे मोहन प्यारा... ।

३. जागने जादवा कृष्ण गोवाळिया.......

४. ज्या लगि आतमां चिन्यो नहीं
   त्यां लगि साधना सर्व जूठी ।

– प्राचीन भजन संग्रह में से

भक्ति स्वभाव से ही दिव्य, चिन्मन एवं रसरुप है । रस की मांग प्राणीमात्र में स्वाभाविक है । रस की प्राप्ति में ही काम का अत्यंत अभाव है । क्योंकि निरसता में ही काम की उत्पत्ति होती है । भक्ति रस के समान अन्य कोई रस नहीं है । यदि यह कहा जाय कि भक्ति में ही रस है, तो कोई अत्युक्ति नहीं है । रस उसे नहीं कहते जिसमें क्षति हो अथवा तृप्ति हो । जो तत्व क्षति और तृप्ति से रहित है, वह स्वरुप से ही अगाध तथा अनन्त है । पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब साधक अपनी रस की स्वाभाविक मांग से निराश नहीं होता अपितु उसके लिये नित्य नव उसका उत्कण्ठापूर्ण लालायित रहता है । भक्ति वह प्यास है जो कभी बुझती नहीं और न कभी उसका नाश ही होता है । अपितु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है ।

भक्ति में उभयपक्ष रसमय हो जाते हैं । भक्ति उनके प्रति होती है जिनके होने से संदेह नहीं है । यह नियम है कि निस्संदेहतापूर्वक जिसकी सत्ता स्वीकार कर ली जाती है, उसमें विश्वास अपने आप हो जाता है । विश्वास से नित्यसंबंध स्वाभाविक है, नित्य संबंध से सभी अनित्यसंबंध की जाल गिरकर टूट जाती है और परिणामतः अखण्ड स्मृति अपने आप होती है ।

स्मृति स्वभाव से ही दूरी, भेद और विस्मृति का नाश करनेवाली है । दूरी के नाश होने में योग, भेद के नाश होने में बोध और विस्मृति के नाश होने से आत्मियता सिद्ध होती है । आत्मीयता अखण्ड, अनंतप्रियता की जननी है ।

प्रियता स्वभाव से ही रसरुप है । इस दृष्टि से भक्ति अनंत रस की प्रतीक है । आत्मीयता अभ्यास नहीं है अपितु जीवन है । आत्मीयता से उदित रस कभी नाश नहीं होता । न कभी उसकी पूर्ति होती है । वह रस अविनाशी होने से अखण्ड है और पूर्ति न होने के कारण अनंत है ।

यह वर्तमान की वस्तु है इसके लिये श्रम अपेक्षित नहीं, अर्थात् सहज साध्य है । सभी के लिये साध्य है । इस प्रकार भक्ति सहज और सुलभ साधन और साध्य है ।

भक्ति रस से शून्य जीवन जीवन ही नहीं, क्योंकि भक्ति रस के बिना निरसता का अन्त नहीं हो सकता उसका अन्त हुए बिना काम का नाश नहीं हो सकता काम के रहते हुए जीवन ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि काम समस्त विकारों तथा पराधीनता का प्रतीक है । पराधीनता जड़ता तथा अभाव की जननी है । जड़ता तथा अभाव के रहते हुए भी जीवन है तो मृत्यु क्या है ?

अर्थात् रसमय जीवन ही सच्चा जीवन है । और भक्ति परम रस, महारस और अनन्तरस है जो परमानंद और संतोषप्रद है ।

बिन संतोष न काम नसाहीं ।

काम अछत सुख सपनेहु नाहीं । (श्रीराम चरित मानस)

एसा संतुष्ट भक्त फिर विभक्त नहीं हो सकता उसका सभी से संबंध होता है । परंतु वैयक्तिक नहीं समष्टिगत । फिर भक्ति ही भक्त का जीवन बन जाता है ।

भक्त को विकल्परहित विश्वास प्राप्त हो जाता है । इसे शरणागत भाव कहते हैं । जहां 'अहं' और 'मम' नष्ट हो जाता है । और शरमागति की सजीवता में निश्चिंतता, निर्भयता, आत्मियता निहित होते हैं । अनुक्रम से ये गुण सामर्थ्य, स्वाधीनता तथा प्रीति के प्रतीक है ।

सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में अकर्तव्य का अभाव और कर्तव्यपरायणता निहित है अर्थात् जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, और जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है ।

यह नियम है कि दोषों का अभाव होते ही गुणों का अभिमान स्वतः गल जाता है । गुण दोष से पर जीवन में अहं की दुर्गंध को कहीं भी स्थान नहीं रहता । अहं के नाश के साथ साथ भेद और भिन्नता भी खो जाते हैं । इस प्रकार भक्तिरस में डूबकर भक्त कामनाओं से निवृत्त होता है और प्रेम की परम कक्षा को स्पर्श करता हुआ धन्य बन जाता है ।

परंतु सच्चा भक्त और शरणागत वही हो सकता है जो अपनी निर्बलताओं से अपरिचित नहीं है और अनन्त की अहैतुकी कृपा में जिसकी अविचल श्रद्धा है ।

चित्त का स्वभाव है, वह किसी भी लौकिक या अलौकिक वस्तु के दर्शन श्रवण और मनन से तदाकारता धारण करता है । अतएव भगवद् भक्तोंने -

''चिते - द्रुते प्रविष्टत्या गोविन्दा कारता स्थिरां सा भक्तिरित्यभिहिता ।

अर्थात् चित्त का द्रवीभूत होकर गोविन्दाकार बन जाना ही भक्ति है । चित्त एक होता हुआ भी दृश्य-भेद, श्रव्य भेद और मंतव्य भेद से विविधाकारों में परिणत होता है । यही कारण है कि चित्त में काम-क्रोधादि का भी उसी प्रकार प्रादुर्भाव होता है जिस प्रकार भगवद्भक्ति, विवेक और वैराग्य का । इसलिये भक्ति रसायणकार ने कहा है कि -

कामक्रोध भय स्नेहहर्षशोकदयादयः ।
तापकश्चितत्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत् ॥

चित्त को जतु (लाख) के समान कठोर कहा गया है । वह कामादि कारण से उपस्थित होते ही पिघल जाता है । जिस प्रकार पिघली हुई लाक्षा में कोई रंग मिश्रित कर दिया जाय तो लाक्षा पुनः कठोर होने पर पक्षिप्त रंग का परित्याग नहीं कर सकती, ठीक उसी प्रकार कामादि द्वारा द्रवित चित्त में जिन संस्कारों का समावेश होगा, वे शान्त वृत्ति में भी चित्त के भीतर अपना स्थान बनाये रहेंगे । एसे विकृत भावावेश का ही नाम 'वासना' कहा गया है। जैसे द्वेष की सामग्री उपस्थित होने से चित्त की तदाकारता वृत्ति का नाम द्वेष होगा, उसी प्रकार भगवान के दिव्य मंगल विग्रह के दर्शन से, उनकी लोकातीत लीलाओं के श्रवण से तथा परम प्रेमास्पद भक्त जनाह्लादिनी उनकी कथाओं के कथोपकथन से द्रवीभूत चित्तवृत्तिका नाम 'भक्ति' है । पुनः पुनः भगवदर्शन, श्रवण और मनन से द्रुत चित्तवृत्ति ही भक्ति का आविर्भाव है ।[1]

---

१. कल्याण भक्तिअंक पृ. ४

यह ध्रुव सत्य है कि कोई भी व्यक्ति अपनी हानि और तिरस्कृति नहीं चाहता । सभी उत्कर्ष की ओर अनवरत प्रयत्न करते हैं । इस पर भी कभी अपकर्ष होता है । इसका सीधा तात्पर्य यह है कि पुण्य के प्रभाव से उत्कर्ष होता है । भगवत् प्रसाद से पहले पुन्यार्जन में प्रवृत्ति होती है, पश्चात् भक्त वत्सल भगवान् स्वयं द्रयार्द्रभाव से भक्त पर अनुग्रह करते हैं ।

यमुन्निनीदतितं साधु कर्म कारयति यमधोनिनीषति तम साधु कर्म कारयात् । (उपनिषद्)

जिनको प्रभु दारून दु:ख देहि
ताकि मति पहले हरि लेहि । (रा.च.मानस)

पुज्य पुंज बिनु मिलहि न संता
सदा संगति संसृति कर अंता ।

काहू न कोउ दु:ख सुख कर दाता ।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ।

इस प्रकार जीव इश्वर इच्छा से ही शास्त्रीय और अशास्त्रिय हो जाता है और उर्ध्वगति एवं अधोगति को प्राप्त करता है ।

अर्थात् भगवत् कृपा के बिन भक्ति प्राप्त नहीं होती ।

आगे हमने भक्ति की विभिन्न परिभाषाएँ एवं व्याख्या देखी । इसके अनुसार शक्ति का स्वरुप, स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि सब प्रकार की श्रद्धासंबल उपास्यगत रति परब्रह्म परमात्मा का ही अवगाहन करती है ।

भक्ति त्वरित प्रभु प्राप्ति और प्रभु प्रसन्नता का एकमात्र सहज, सरल, सुगम और श्रेष्ठ मार्ग है ।

जातें बेगी द्रवऊँ मैं भाई ।
सो मम भक्ति भगत सुखदाई ।

सो सुतंत्र अवलंबन आना ।
केबि आधिन ज्ञान विज्ञाना ।

भक्ति स्वतंत्र है ज्ञान और विज्ञान भी भक्ति के आधिन है ।

बुद्धिमान को, उसी के लिये प्रयत्न करना चाहिए, जिससे जन्म – मरण के पाश टूट जाय । और यह मुक्ति प्रभु के अनुग्रह के बिना संभव नहीं है। इस अनुग्रह सम्पादनार्थ भक्तिमार्ग का आलंबन आवश्यक है ।

शांडिल्य के मत के अनुसार आराध्य के प्रति अनुराग ही भक्ति है । यह राग आनंद से परिपूर्ण है ।

श्री रुपगोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति के विषय में कहा है कि –

– आध्यात्मज्ञान की प्राप्ति की अभिलाषा न करते हुए, कर्म अथवा वैराग्य का भी मोह न रखते हुए और अपने भी किसी स्वार्थ की भावना को स्थान न देते हुए केवल श्रीकृष्ण की संतुष्टि के लिये उनका प्रेमभाव से चिन्तन करना ही उत्तम भक्ति है ।

श्री रामचरित मानस में ज्ञान-विज्ञान को भक्ति के आधिन तत्व बताये हैं, अर्थात् भक्ति स्वतः ही पूर्ण है । उन्हें कर्म, ज्ञान और अन्य कीसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती । कर्म वैयक्तिक लाभ के लिये होता है और ज्ञान ब्रह्मप्राप्ति के लिये । भक्ति उन दोनों से भिन्न है, भक्ति कुछ भी नहीं चाहती है ।

गौडीय वैष्णव साहित्य में ज्ञान और कर्म का विरोध किया गया है जब तक लौकिक सुख या मुक्ति की आकांक्षा मन में बनी रहती है तब तक भक्ति का प्रादूर्भाव नहीं होता ।

कविराज श्री कृष्णदासजी ने भी कर्म और ज्ञान की तुलना घासफूससे की है और अपने पाठकों को स्पष्ट आदेश दिया है कि वे उन्हें अपने हृदय से सर्वथा निर्मूल कर दें जिससे कि भक्ति वल्लरी के लहलहाने में कोई बाधा न पडे ।

भक्ति स्वतः साधन भी है और साध्य भी । भक्ति अपनी चरमावस्था में मुक्ति का भी अतिक्रमण कर जाती है और प्रेम नाम से अभिहित होती है ।

शुद्ध भक्ति पर ज्ञान के भारी भरकम बोझ को आप कभी भी लाद नहीं सकते। यह विषय ही मस्तिष्क का नहीं है यह प्रेम का विषय है । और प्रेम हृदय का विषय है । शुद्ध भक्ति तर्कातित है । किसी सूफी संत ने इसलिये ही कहा है कि -

इश्क नाजुक मिज़ाज है बेहद
अक्ल का बोझ उठा नहीं पाता ।

यहां कोई लौकिक इश्क की बात नहीं है । परंतु शुष्क वैराग्य और बोझिल ज्ञान के भार की बात है । हां, ईश्वर का क्या स्वरूप है ? जीव का इश्वर के साथ क्या संबंध है ? पुनः जीव को इश्वर के निकट जाने के क्या उपाय है ? ये सब जानना भक्तिविरोधि नहीं है ।

भक्ति को स्वयंमोक्षरुपा कहा गया है । सच्चा आध्यात्मज्ञान भी भक्ति का अनुषाङ्गिक फल है ।

प्रथम अध्याय में हम भक्ति का स्वरुप, व्याख्या आदि की सैद्धांतिक चर्चा कर चुके हैं । परंतु वहां हमे यह देखना है कि तुलसी के अनुसार भक्ति का स्वरुप कैसा है ?

अरण्यकांड में भक्तिविषयक चर्चा करते हुए श्री राम लक्ष्मण को भक्ति के स्वरुप को वर्णन करते हुए कहते हैं कि भक्ति स्वतंत्र है - इसे किसी भी के अवलंबन की आवश्यकता नहीं है । ज्ञान और विज्ञान भी भक्ति के आधिन है[1] श्रीमद् भागवत् महात्म्य-पद्मपुराण में भी ज्ञान विज्ञान को भक्ति के पुत्र बताये हैं ।[2] अर्थात् भक्ति का स्थान ज्ञान विज्ञान से श्रेष्ठ और बड़ा है । भक्ति ज्ञान-विज्ञान की जननी है - इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि भक्ति प्राप्त होने के बाद ज्ञान और विज्ञान जो अति कष्ट साध्य है वह सहज ही में प्राप्त हो जाते हैं, तुलसी के मत से धर्म से वैराग्य की प्राप्ति होती है और योग से ज्ञान की । ज्ञान मोक्षपद को देनेवाला है।[3]

---

१. सो सुतंत्र अवलंबन आना, तेहि आधिन ज्ञान बिग्याना । मानस ३/१६
२. अहं भक्तिरित ख्याता .... पद्मपुराण श्रीमदभागवत महात्मये १/४५
३. धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना ।...... मानस ३/१६

धर्माचरण से वैराग्य की प्राप्ति होती है । और योग से चित्तशुद्धि होने के कारण ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है । वैराग्य और ज्ञान की प्राप्ति से चित्तवृत्तियाँ शांत होती है । और इस प्रकार साधक समभाव समरसता, परमशांति अथवा मुक्ति का अनुभव करता है । परंतु तुलसी के मत से चित्तवृत्तियों को शांत करने के लिए ज्ञान वैराग्य की प्राप्ति और इस प्राप्ति के लिये विविध प्रकार के योग (यम-नियम-आसन प्राणाय आदि) अथवा अनेक प्रकार के आचरों का कष्ट उठाने की आवश्यकता भक्त के लिए नहीं है । भक्ति स्वतः परम अमृतस्वरूपा है ।[१] और इसके कारण भक्ति की प्राप्ति से भक्त पर प्रभु कृपा सहज ही बरसती है । और भक्त बिना योग अथवा ज्ञान वैराग्य के भी समत्वभाव को प्राप्त करता है ।

मानस के उत्तरकांड के अनुसार इसी वजह से मुनि लोग भी योगाश्रय नहीं करते हुए मात्र सेवक भाव से भक्ति करते करते ही राग, लोभ, मान, मद, वैभव दुःख आदि से स्वतः मुक्त हो जाते हैं ।[२] भक्ति की एसी स्वतंत्रता और सरलता के कारण विमुक्त विरक्त और विषयी सभी जीव भक्तिरुपी संपत्ति को लेने के लिये ही तत्पर है ।[३]

---

१. अमृत स्वरूपा च - नारद भ.सू. ३

२. नहींराग न लोभ न मान मदा तिन्ह के सम वैभव वा विपदा
येहि ते तब सेवक होत मुदा मुनि त्यागत जोग भरोस सदा । मानस ७/१४

३. सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु विषयी ।
लहहिं भगति गति संपति नई । मानस ७/१५

भक्ति को स्वतंत्रता कही गई है उपरांत श्री राम के चरणों में परम अनुराग को ही भक्ति कहा है । 'मानस' में अनेक स्थानों पर तुलसी ने इस बात को एक या दूसरे रुप से दोहराई है । उत्तरकांड में कहा है कि श्री राम के प्रति अनुराग के बिना भक्ति की प्राप्ति अन्य योग, विराग, ज्ञानादि साधनों से नहीं होती ।[१] एकबार जो श्री राम के चरणों में प्रेम हो गया तो भक्ति सहज ही प्राप्त हो जायेगी और फिर अन्य किसी भी जतन अथवा प्रयास (साधनों) की आवश्यकता नहीं है [२]। प्रभु के चरणों में जब तक प्रीति नहीं होती है तब तक भक्ति दृढ़ नहीं होती है[३] अर्थात् यहां हम प्रीति और भक्ति को परस्पर के पर्याय भी कह सकते हैं । प्रभु चरण में दृढ़ प्रीति ही दृढ़ भक्ति का स्वरुप है । नारद जी भी भक्ति के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए भक्ति को परम प्रेमरुपा ही कहते हैं [४]। और कितने भी साधन करे परंतु साधक के हृदय में जबतक प्रभु के प्रति अनन्य भाव जाग्रत नहीं होता तबतक प्रभु प्रसन्न नहीं होते ।

---

१. सबकर फलरघु पति पद प्रेमा
तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा – मानस ७/९५

२. भगति करत बिनु जतन प्रयासा ।
संसृति मूल अविद्या नासा – मानस ७/११९

३. प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई ।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई । – मानस ७/७९

४. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरुपा – नारदभक्तिसूत्र २
भाव वस्य भगवान – मानस ७/९२

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रभु के चरणों में अथवा प्रभु के प्रति अथवा अपने इष्टदेव के प्रति अत्यंत अनुराग को भक्ति कहते हैं । इस अनुराग, मन, वचन और कर्म से होना चाहिए । भक्त सर्वभावेण प्रभु को समर्पित होना चाहिए । जबतक ईश्वर के प्रति अनन्याश्रय नहीं होता तबतक भक्ति दृढ़ नहीं होती ।

शांडिल्य के मतानुसार भी ईश्वर के प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहा है ।[1]

तुलसी के मत से रामप्रेम के बिना ज्ञान भी अशोभनीय है जैसे माझी विहिन नैया ।[2] इससे ठीक विपरीत जो रामचरन में साधक का प्रेम हो तो वह प्रेम ही साधन और सिद्धिरुप है ।[3] श्री राम के चरणों को प्रेम सब मंगलों का मूल है ।[4] सीताराम जी के चरणों के प्रति प्रेम सफल सुकृत का फल है।[5]

---

१. सा परानुरक्तिरीश्वरे । शांडिल्य भ.सू. २

२. सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू ।
करनधार बिनु जिमि जलजानू । मानस २/२७७

३. साधन सिद्धि राम पग नेहू मानस २/२८९

४. सकल सुमंगल मूल जग रघुवर परम सनेहु । मानस २/२०७

५. सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू ।
राम सीय पद सहज सनेहू । मानस २/७५

इस प्रकार इस शोध प्रबंध में मानस के आधार पर भक्ति और दर्शन को स्पष्ट करने का हमारा प्रयत्न रहा है ।

अब 'दर्शन' के विषय में थोड़ी चर्चा करें जैसे उपसंहार के आरंभ में मैंने कहा कि स्वाभाविक रूप से जीवमात्र सुखान्वेषी है । सुख के तीन प्रकार है देह का सुख, मन का सुख और आत्मा का सुख ।

मेरे अनुभव के आधार पर यदि कहा जाय तो विश्व में जितने लोग है उतने प्रकार के भिन्न भिन्न मन, विचार, वाणी और वर्तन है अर्थात् लाखों प्रकार के मनोविज्ञान है । मनोविज्ञानियों ने चाहे कुछ मनोवैज्ञानिक अध्ययन के बाद इसे निश्चित नाम देकर कुछ सीमाओं में बांध दिया अथवा मनोविज्ञान को शास्त्र का रूप देने के लिये एसा करना पडा परंतु मानव मन की दौड़ अगाध, अमाप और असीम है, वह अनंत है । ऐसे चंचल मन में अनेक प्रश्न उठे और ऋषियों ने उस प्रश्नों का शाश्वत निराकरण देने के लिये अमनी स्थिति में पहुंचकर कुछ सूक्ष्म अनुभव किये जो दिव्य थे । शाश्वत थे । इस शाश्वत अनुभव में मानव मन के सारे प्रश्नों का सम्यक् समाधान मिला और इस अनुभव को हमारे मनिषियों ने, चिंतकों ने, ऋषिमुनियों ने शब्द देह देने का प्रयत्न किया जिसे हमने दर्शनशास्त्र नाम दिया परंतु शास्त्र तो बाद में बना, मूल दर्शन तो ज्ञानमय स्थिति का अनुभव ही था यह सदा याद रहे । दर्शन की उत्पत्ति भी भक्ति जितनी ही प्राचीन है ऐसा कहने में बिल्कुल अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत और मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चौबीस तत्वों से मनुष्य उत्पन्न हुआ अर्थात् देह और इन्द्रियों के साथ साथ मनुष्य को अगम्य जादूगरी से अथवा जिसे हम ईश्वर कहते हैं इसकी ओर से मन, बुद्धि और आत्मा प्राप्त हुई ।

दैहिक स्तर पर सुख भोगने पर मनुष्य को थोड़ा आनंद तो मिला परंतु वह वस्तुनिर्भर था, विषय पर निर्भर था और इन्द्रियनिर्भर था नाशवान वस्तु, विषय और इन्द्रियाँ क्षीण होने के साथ ही यह सुख भी क्षीण हुआ तब मनुष्य को लगा कि यह सुख शाश्वत नहीं है और शाश्वत सुख के लिये क्या करना चाहिए?

मन का सुख इच्छाजन्य था परंतु इच्छाओं का तो अंत ही नहीं हुआ और सभी इच्छाएँ पूरी होने की स्थिति जब नहीं देखी गई तब मनुष्य दुःखी हुआ अर्थात् इच्छाओं की परिपूर्ति से मन सुख का अनुभव करता था परंतु इच्छा अपूर्ण रहने से मन दुःखी हो जाता था । तब मन का सुख भी शाश्वत नहीं है एसा सिद्ध हुआ । और इस प्रकार देह और मन के सुख के लिये भटकता हुआ मनुष्य अतृप्त ही रहता गया तब इन्द्रिय एवं मन के नचाये हुए नाच से थके हारे मनुष्य के मन में अनेक प्रश्न उठे जैसे कि यह जगत् क्या है? किसने बनाया? क्यों बनाया? जीव क्या है ? मन का स्वरुप कैसा है? ये माया क्यों? क्या देह और मन से बढ़कर कुछ है ? यदि इसे आत्मा कहे तो आत्मा का स्वरुप कैसा है ?

उपरोक्त सारे प्रश्नो के उत्तर पाने के लिये मनुष्य अंतर्मुखी बना क्योंकि वह बाहर की और उड़ाने भर-भर के थक गया था परंतु अब इतना बोध हो चुका था की मात्र भीतरी जगत की यात्रा से ही शायद हमारे प्रश्नों के उत्तर मिल पायेंगे । और इस प्रकार मनुष्य ने चर्मचक्षु से नहीं परंतु एक सूक्ष्म दृष्टि से आंतरजगत् का अभ्यास शुरु किया और इस अभ्यास से विश्व के कई रहस्यों का स्पष्टीकरण हुआ तथा अनेक समस्याओं के समाधान भी मिला । शाश्वत और दिव्य सुख की झलक मिली जो झलक आजतक शरीर और मन की उड़ान द्वारा नहीं पाई गइ थी ।

गहन चिंतन और चिंतन के बाद केवल बोध के जगत् में पहुंचकर जिस मनुष्य को परमानंद की झंकार सुनाई दी उस मनुष्य को हमने ऋषि या मनीषी कहा और एसे ऋषियों ने बहुजनहिताय अर्थात् उसका अनुभव सबका अनुभव बने इसलिए ज्ञान की अवस्था में अनुभूत सूक्ष्म विषयों और बातों को शास्त्ररुप देने का प्रयत्न किया जिन्हें हम 'दर्शन' कहते हैं ।

भारतीय दर्शन के अनुसार जीवमात्र में परमात्मा बसे हैं परंतु मन और बुद्धि ये दो तत्व मनुष्य को खास भेट के रुप में प्राप्त हुए हैं । मन को उपनिषद् में हृदय भी कहा है । मनुष्यजाति में प्रमुखतः दो प्रकार के लोग विद्यमान होते हैं (१) हृदयपक्ष से सबल (२) बुद्धिपक्ष से सबल ।

जिन मनुष्यों में हृदयपक्ष या भाव पक्ष सबल था वे लोग ज्यादा छान-बीन, सोच-विचार में न डूबते हुए सीधे ही अस्तित्व के चमत्कारों को देखकर अभिभूत होकर धन्यवाद के भावों के साथ गद्‌गदित होकर परमाश्चर्य के साथ संपूर्ण अस्तित्व की शरणों में समर्पित हो गये । बाद में उसे परमात्मा, ईश्वर, देव, कुदरत और इसके बाद विविध अवतारों के नाम से पुकारा और इस समर्पण को ही भक्ति नाम दिया गया ।

परंतु जिन मनुष्यों का बुद्धिपक्ष सबल था वे लोग कुछ भी सिद्ध किये बिना, सीधा सीधा समर्पण नहीं कर सकते थे । हाँ, वे लोग जानते थे अवश्य की कोई परमसत्ता है जिसके ईशारे सब चल रहा है लेकिन वे प्रयोगवादी थे वे धर्म-अध्यात्म जगत के वैज्ञानिक थे एसा भी कह सकते हैं । उन लोगों ने जीव, जगत्, माया आदि के विषय में स्पष्ट होने के लिये आंतरिक प्रयोग शुरु किये, इन प्रयोगों में देह से लेकर बुद्धि तक का उपयोग किया गया और योग, प्राणायाम आदि प्रयोग, चिंतन, मनन आदि भीतरीयात्रा के बाद उन्होंने इस दिव्य चेतना का अनुभव किया और उस अशरीरी, अलिंगि, अद्वितीय अपितु सर्वव्यापी चेतना को 'ब्रह्म' नाम दिया और उस ब्रह्म के चरणों में वे आध्यात्मिक वैज्ञानिक समर्पित हो गये कि जिस ब्रह्म की अनुभूति से अथवा साक्षात्कार से उनको अपने सारे प्रश्नों का समाधान मिल गया, शाश्वत सुख की प्राप्ति हुई कि जो सुख दैहिक या मानसिक नहीं था परंतु आत्मिक था, अक्षुण्ण था।

इस प्रकार ब्रह्मानंद का अनुभव करनेवाले ऋषियों ने वेदों में अपने अनुभवों को लिखा, हालाँकि वेद अपौरुषेय कहे गये है परंतु ऋषियों को एसा कहना पड़ा । इसका भी कारण है कि यदि वेद कोई पुरुषने या मनुष्यने लिखा एसा कहे तो सिद्ध होगा कि मानवीय धरातल पर जो कुछ भी कार्य होता है वह केवल देह, मन, बुद्धि और अहंकार से ही निकला होता है, जबकि ऋषि मुनियों की जो अनुभूति थी वह तो देह, मन, बुद्धि आदि के परे की थी । उस अनुभूति में तो स्त्री-पुरुष का भेद भी मिट गया था, उस ब्रह्मानंद की क्षण को पानेवाला भी ब्रह्म था, वहां वह मनुष्य न रहकर देवत्व को प्राप्त हुआ था, वह अनुभव पार्थिव न होकर, दिव्य था, एसे अनुभव को जब ग्रंथस्थ करते वक्त वे कहेंगे

कि वेद पौरुषेय है तो सारी बात ही गलत हो जायेगी, क्योंकि वह अनुभव में कर्ता तो बचा ही न था ! अहं तो चूर चूर हो गया था तो कौन कहेगा कि ''मैं लिख रहा हूँ''...! शरीर तो उन दिव्य अनुभवों को लिखने के लिये एक साधन मात्र था, उसका मूल्य भूर्जपत्र या कलम से ज्यादा बिलकुल नहीं था ।

यदि वेद को पौरुषेय कहे तो दूसरी भी एक कठिनाई उठ खड़ी होती। सभी पुरुषों को मनुष्यों को तो ऐसा सूक्ष्म अनुभव हुआ नहीं है । आम आदमी तो लिखनेवालों को भी अनुभव के बिना आम ही समझ लेते हैं । क्योंकि केवल शब्द से कुछ नहीं होता शब्दब्रह्म को वही समझ सकता है कि उसके पास जब कोई ऐसी अनुभूति हो । वेद का ऋषि आम लोगों के सामने केवल कवि बनना नहीं चाहते थे, उन्हे नाम का कोई लोभ न रहा था । वह इन सारी ऐषणाओं से उपर उठ गये थे । वे नहीं चाहते थे कि वेद में खुद का रचयिता के रूप में नाम जोड़कर वेद की गरिमा को ही नष्ट कर दे, क्योंकि नाम रूप और गुण से उस पार की स्थिति में ही उन्हे सारा दर्शन अर्थात् उस नाम-रूप गुण से पर तत्व का अनुभव प्राप्त हुआ था ।

इस प्रकार लोकसंग्रह हेतु भारत के ऋषियों ने वेद को अपौरुषेय कहकर उसके प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ाने का और लोगों को साधना के प्रति, स्व के प्रति, ब्रह्म के प्रति जगाने का प्रयत्न किया है ।

दर्शन का एक अर्थ है ज्ञान दृष्टिसे देखना अर्थात् चर्मचक्षु से स्थूल जगत को नहीं परंतु आंतरचक्षु अथवा ज्ञान चक्षु सूक्ष्म जगत या अंतरजगत या आत्मा-जीव जगत् माया आदि के विषय में ज्ञानपूर्वक चिंतन के आधार पर और साधना के प्रकाश द्वारा देखना । चिंतन और ज्ञान के साधन बनाकर कुछ महान आत्माएँ अस्तित्वके चरणोंमें समर्पित हो गई और विश्व की चालक शक्ति कि जिसका बोध ज्ञान द्वारा हुआ था उस शक्ति को उन चिंतकोने परमात्मा, ईश्वर, भगवान आदि विविध नाम समाज की माँग के अनुसार दिये । वेदकाल में बहुदेववाद प्रचलित होने पर भी प्रत्येक देव एक सद्वस्तु अनंत रुप का ही एक रुप है ऐसी भावना ऋषियों के अंतःकरणमें सत्वर जाग उठी थी[१] । धीरे धीरे यह भावना साहित्यकारों, पंडितों एवं कवियोंमें भी पनपती रही और श्रृंगार एवं ऐतिहासिक काव्यों में भी कहीं न कहीं यह आध्यात्मिक भावना किसी न किसी रुपसे प्रदर्शित होती रही इसके सुंदर उदाहरण महाकवि कालिदास रचित 'विक्रमोर्वशीयम्'[२] अभिज्ञानशाकुन्तलम्[३] कुमारसम्भव[४] रघुवंश[५] आदिमें मिलते हैं ।

प्राचीन से लेकर अर्वाचिन कवियों, विद्वानों एवं पंडितों जो चिंतनशील विचारधाराके थे उनके साहित्यमें कहीं न कहीं भक्ति-दर्शन का पुट मिल ही जाता है जिसमें एम. टैगोर[६] जैसे उदार और विश्वबंधुत्वकी भावनासे भरे हुए कवियों लेकर स्वामीनारायण धर्मकी सीमित विचारधारावाली एवं नीति-नियमोंवाली एक सांप्रदायिक परंपरा में सत्संगीजीवन जैसे ग्रंथों को समाविष्ट कर सकते हैं।[७]

---

१. हिंद तत्वज्ञाननो इतिहास स्व. नर्मदा शंकर देवशंकर महेता गुजरात विद्यासभा-अपदोवाद

२. विक्रमोर्दशीयम् प्रथमोङ्क प्रथम श्लोक

३. अभिज्ञान शाकुन्तलम् - प्रथमोङ्कः श्लोक संख्या १

४. कुमार सम्भव सर्ग - २ श्लोक संख्या १ से १०

५. रघुवंश प्रथमसर्ग प्रथम श्लोक

६. गीताञ्जलि

७. सत्संङ्गिजीवन् पंञम प्रकरण अध्याय ७० श्लोक सं. ६८

केवल विद्वान और संस्कृत पंडितों के द्वारा ही समाज को दर्शन भक्ति का बहुमूल्य निधि प्राप्त हुआ है ऐसा नहीं[१], कबीर जैसे अनपढ़ और इसरदान[२] तथा ब्रह्मानंद[३] जैसे राजाशाही के समय के चारण और बारोट संतकवियोंके पास से ही देहाती और डिंगल पिंगल मिश्र भाषामें भक्ति-दर्शनयुक्त बोधगम्य साहित्य प्राप्त होता है । ऐसे कवियों और ग्रंथोंमें कवि नरहरकृत अवतार चरित्र प्रमुख है ।[४]

संस्कृत साहित्य के इतिहासमें लिखा है कि बल विक्रम और आयु के साथ-साथ ज्यों ज्यों मनुष्यकी मेधा स्मृतिमें ह्रास होता गया त्यों, त्यों ज्ञानकी विपुल परंपरा को सुरक्षित रखने और उसको भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने के उसके पुराने माध्यमोंमें परिवर्तन हुआ ।[५] अर्थात् हम कह सकते हैं कि मनुष्यकी ज्ञानपिपासामें से भक्ति दर्शन युक्त साहित्य का विकास हुआ और वैदिक कालसे लेकर आजतक समाजकी माँग के अनुसार साहित्य के रुपमें भक्तिदर्शनके संस्कार लोगोंको आध्यात्मिक पृष्ठभूमि बनानेके लिये सहायरूप हुए । विश्वके ऋषि-चिंतक एवं सिद्धपुरुषोंकी अपरोक्षनुभूति[६] की अभिव्यक्ति शब्दरुपसे हमें ग्रंथस्थ होकर मिलने लगी ।

वैदिक दर्शनके उपरांत अवैदिक दर्शन जैसे कि जैन और बौद्ध भी मनुष्यके आंतरिक और आध्यात्मिक उत्थानके ही ग्रंथ है । दर्शन और भक्ति तत्व खंडव्यापी नहीं परंतु विश्वव्यापी है । उसकी धारा धर्म, संप्रदाय, जाति और ऊँचनीच तथा राष्ट्रीय सीमाओंको लांधकर बहती है । प्रो. पी.सी. रावलके मतसे दर्शन समाजकी सभ्यता और संस्कृतिका अमूल्य भंडार है ।[७] डॉ. राधाकृष्णन, मेक्समूलर, गार्बे, प्लेटो, अरिस्टोटल, सात्र, ब्रेडली, एडमंड होम्स आदि इस बात को सिद्ध करने के लिये श्रेष्ठ उदाहरण हैं ।

---

१. कबीर साहेबनी साखीओ
२. हरिरस - कवि इसरदानजी
३. छंदरत्नावली - कवि ब्रह्मानंदजी
४. अवतार चरित्र कविवर श्री नरहरिदासजी
५. संस्कृत साहित्यका इतिहास - प्राकथन - पृ. (२)
६. अपरोक्षनुभूति - स्वामी तद्रुपानंदजी (गुजराती)
७. अ. वैदिक दर्शनों - प्रो. पी. सी. रावल

वैदिक और अवैदिक दर्शनोंको छोड़कर यदि हम इस्लाम दर्शनकी बात करे तो इस्लाम दर्शन का प्रमुख ग्रंथ कुरान है और वह अरबी भाषामें है । कुदरत[1] अरबी शब्द है और कुदरतका अर्थ होता है 'शक्ति' । और वास्तवमें निसर्ग ही मुलशक्तिका विराट स्वरुप है । इस्लाम विविध अर्थो में से एक अर्थ समर्पण अथवा ईश्वराधिन जीवन ऐसा भी होता है और दूसरी ओर सत्यके मार्ग में सतत् यत्नवान पुरुषार्थ ऐसा भी होता है अर्थात् एक ही शब्दमें दर्शन और भक्तिका समन्वय इस्लाम शब्द के अर्थ के रुपमें मिलता है और वैदिक या भारतीय दर्शन और भक्ति मार्गमें भी ज्ञान और समर्पणकी ही बात है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दर्शन किसी भी देश या दुनियाका हो, चाहे सिद्धांत और भाषागत भेदयुक्त हो परंतु उसकी शाश्वतता में कोई फर्क नहीं पडता । एक अर्थमें सभी दर्शन एकदशीय है और एक अर्थमें अनंत है । सभी दर्शनोंका मूलस्वर और अंतिम निष्कर्ष तो एक या दूसरे रुपसे परमात्माकी निकटता साधना ही है । भक्त का यही ध्येय है ।

सभी दर्शन परंपराओं की कुछ बाते बीज रुपसे प्रत्येक परंपराओंमें निहित ही मिलते हैं और परिणाम रुप चिंतन और संस्कृतिका एक मधुर समन्वयके रुपमें जन्म होता है ।[2]

प्रमुखतः भारतमें दर्शन और भक्तिकी धारा अस्खलित रुपसे बहती रही है। जिसमें बौद्ध, जैन, सिद्ध आचार्य शंकर, रामानंद, रामानुज, निम्ब, माध्व, वल्लभ और आदि संप्रदाय और बाद में वेदकाल और पुराणकाल से लेकर तुलसी जैसे संतो के चिंतन से वह धारा सबल और गतिमान हुई और दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, नित्यानंद, टैगोर, गांधी, श्री अरविंद, डॉ. राधाकृष्णन्, कुमारस्वामी और इकबाल जैसे चिंतकोने उसे जीवंत रखनेका प्रयत्न किया । विविध सांप्रदायिकता और पंथोके रुपमें भी भक्ति दर्शनको पनपने का तथा विस्तृत होने का अवसर मिला । इसमें हम जे. कृष्णमूर्ति और आचार्य रजनीशका भी समावेष कर सकते हैं ।

---

१. इस्लाम दर्शन – इस्माइलभाई नागोरी पृ. १

२. आधुनिक भारतिय चिंतन – पृ. संख्या १६

संतो, विद्वानों, आचार्यो और पंडितोंके उपरांत कुतबन, मंझन, फरीद, दादू, जायसी जैसे रहस्यवादी सूफ़ी कवियोंका भी योगदान रहा तथा अंत मीरा, सहजो, दयाबाई आदि महिला संतो का भी प्रदान रहा ।

फिर भी हम कह सकते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी भक्ति–दर्शन के क्षेत्रमें आदिकाल और वर्तमानको जोड़नेवाले एक उदार, समन्वयवादी और भक्ति–दर्शन रुपी स्मरणितका के सुमेरु रुप कवि रहे, कि जिन्होंने भक्तिके साथ साथ, सामान्य मनुष्यके लिये दार्शनिक विचारों एवं सिद्धांतोंको बोधगम्य, सरल और सुलभ बनाये ।

तुलसीने मानसको माध्यम बनाकर एक और भारतकी जनताको श्री राम जैसे उदात्त गुणोवाला धीर–ललीत और धीरोदात्त पात्रको अपनी कथाका नायक बनाकर उदारता, संयम, बलिदान, त्याग, साथ, क्षमा, सहिष्णुता और पारिवारिक प्रेम के प्रेरणा पियुष पिलाये तो दूसरी ओर वही रामको अपने इष्टके रुपमें प्रस्थापित करके भक्तोंको एक सगुण उपासनाका ठोस आधार दिया और विधर्मीयोंके धर्मझनून के सामने टीके रहने के लिये धार्मिक आधार भी प्रदान किया । इस प्रकार लौकिक और अलौकिक विवेक सीखने के लिये तुलसीका मानस एक चलती फिरती पाठशाला बन गया । तुलसीकी भक्ति भावना केवल सांप्रदायिक अथवा कर्मकांड प्रधान नहीं थी । तुलसीने भक्तिके साथ साथ इतने सहजरुपसे दार्शनिक विचारोंको जोड़ दिया है कि पाठक को दर्शन की जटीलता कहीं भी नजर नहीं आती है और भक्त हृदय उस चिंतनको आत्मसात कर सकता है तथा कोई भी दार्शनिक उनके दर्शन संबंधी चिंतन से सहमत होने से इनकार नहीं कर सकता परंतु प्रसन्न होता है ।

कभी कभी तुलसी मानसमें विद्या और सुविधाकी बात करके ज्ञान विचार को प्रगट करते है तो कभी भक्तिद्वारा माया से मुक्ति की घोषणा करके दर्शन भक्तिको मिला देते हैं कभी ज्ञान और भक्तिमें अभेद्य स्थापित करके दोनों के अंतिम परिणाम परमानंदजी और इशारा करते है तो कभी भक्ति के महामार्ग को सरल सुगम और सुलभ धोषित करके ज्ञानमार्गके साधनाकी कठिनाईयों की ओर साधक को सावधान भी करते हैं ।

तुलसी भक्तिके आगे मुक्तिका भी त्याग करके एक प्रबुद्ध चिंतककी भांति वर्तमानमें ही आनंदकी ऊँचाइयोंको छूनेकी बात करते हैं तो कभी जीव-जगत् और माया विषयक प्रश्नोंको उठाकर आध्यात्म विज्ञानकी गहरी चर्चा भी करते हैं । वे योग और धर्म, वितराग और ज्ञानकी भी बात करके योगमार्गी और सांख्य शास्त्रके प्रवर्तक कपील और पतंजली की बातको भी अपने शब्दोंमें पुष्टि देते हैं तो दूसरी ओर भक्ति की प्रबलता और प्रधानता सिद्ध करते हुए तथा नाम स्मरण तथा शरणागतिका प्रभाव स्पष्ट करते हुए आदि कवि वाल्मीकी, नारद और घटसंभवसे लेकर अंबरीष जैसे भक्तोंका उदाहरण देकर भक्तिमार्गीयोंका आश्वस्थ करते हैं ।

सांप्रदायिक भक्तिभावनाकी विविध उपासनामें धार्मिक संघर्ष को टालने के लिये तुलसीने शिवकथा और रामकथा समन्वय करके उपरांत राम और शिव दोनों के परस्पर में इष्ट देव के रुप में बताकर रामउपासकोंको और शिवउपासकोंको अपनी अपनी मूढ़ता और संकीर्णता छोड़ने की प्रेरणा दी है तो दूसरी ओर ज्ञानीभक्तों, चिंतको और दार्शनिकों को उसी मानसके राम अजन्मा, अविनाशी सच्चिदानंद स्वरुप, मोहमुक्त, इन्द्रियातीत, निर्गुण, निर्विकारी और ब्रह्मरुप तथा परम परमार्थ स्वरुप चित्रित मिलते हैं तथा शिव को अज, निर्गुण, निर्विकार, निर्वाण स्वरुप, विभु, सचराचर व्याप्त, वेद स्वरुप, चिदाकाशवासी, प्रकृष्ट, प्रगल्भ, परेश, अखंड, महाकाल, कल्याणकारी आजि रुप में वर्णित करके ज्ञानी एवं दाशनिकों शिव और राम के विषयमें अर्थात् उन तत्वोंके आध्यात्मिक स्वरुपके विषयमें तर्क करनेका अवकाश नहीं छोड़ा है ।

दर्शन और भक्तिकी अथवा ज्ञान और भक्तिकी पृष्ठभूमि चाहे भिन्न-भिन्न हो परंतु अंतीम भूमिकामें दोनो परमानंदमें राचते हैं अर्थात् ज्ञानी और भक्त परमशांति, शाश्वत शांती, सरलता, स्वाभाविकता, सहजता और अहंशून्यता का अनुभव करते हैं । फिर उन दोनों के परमात्मा वस्तुलक्षी, क्रियालक्षी अथवा साधना लक्षी न रहकर अस्तिस्वरुप, अस्तित्व गत, और समष्टिगत हो जाते हैं। दोनों के संशय और खेद, दुःख भेदद्दष्टि, सब समाप्त हो जाते हैं और संपूर्ण विश्व विराटशक्ति की अभिव्यक्ति स्वरुप लक्षित होता है और दोनों उस विराट विश्वमें विभुका दर्शन करते हैं ।

आकार चारी लाख चौरासी
जाती जीव जल थल नथ-वासी
सीयाराम पय सब जग जानी
करहू प्रनाम जोरी जुग मानी । -

यह भावना ज्ञानी और भक्त दोनोंकी साधक नहीं परंतु सिद्ध कक्षकी द्योतक है । ये ज्ञानी का ज्ञान और भक्त की भक्तिकी चरमसीमा है और इस चरम सीमा पर ही ऐसी उदार और निर्मल तथा अभेद दृष्टि प्राप्त होती है ।

भक्तिका तो स्वभाव है समर्पण परंतु 'ज्ञानीनाम् अग्रगण्य' ऐसे हनुमानजी की स्वामीभक्ति ज्ञानका परिणाम है । उपरांत राजभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, पतिभक्ति, स्वामीभक्ति, भातृभक्ति और राजाकी प्रजावत्सलता आदिका अत्यंत मार्मिक और रोचक वर्णन करके तुलसीने लौकिक भक्तिभावना द्वारा सामाजिक औड़ पारिवारिक स्थिरता बनाये रखनेकी प्रेरणा देनेके उपरांत संसारमें मोहमुक्त और स्नेहयुक्त भावनासे जीकर संसारमें रहते हुए भवसागर पार उतरनेका मार्ग बताया है । गीता के अनुसार ज्ञानीभक्त ही ऐसा जीवन जी सकता है ।

व्यवहार और त्यागका समन्वय शिव और राम का समन्वय, भाषाओंका समन्वय, छंदोका समन्वय, विविध विचारोंका समन्वय तथा भक्ति और दर्शनका समन्वय करके मनुष्यमें पड़ी हुई अनेक संभावनाको प्रकट होनेके लिये तुलसी कईं द्वार खोल दिये हैं उपरांत मनुष्य देहकी दुर्लभता और मनुष्यजीवनकी सार्थकता को भी बड़े पैने ढ़ंगसे वर्णित करके साधक के लिये भक्तिमूलक, कर्ममूलक और ज्ञानमूलक मार्गोंको निर्दिष्ट करके विविध साधनामार्गों का भी समन्वय सरल रूपसे किया है ।

एक ओर तुलसी ज्ञानको मोक्षप्रदान करनेवाला कहकर ज्ञानमार्गको पुष्टि देते हैं तो दूसरी ओर अपने अपने स्वधर्ममें स्थित रहनेवाले कर्ममार्गीको धार्मिक घोषित करके कर्मयोगकी प्रेरणा देते हैं तो तीसरी ओर 'भक्त के रक्षक श्री राम है ऐसा निवेदन करके भक्तोंका हौसला बढ़ाते हैं तो चौथी ओर इन सारे मार्गोमें

प्रविष्ट बदियोंपर प्रहार करते हैं और दंभियोंको फटकारते के साथ साथ साधना मार्ग में आलस्य करनेवालों को 'शढ', 'मूढ़' आदि कठोर शब्दोंसे जगाते भी हैं । इस प्रकार तुलसी का मानस भक्ति-दर्शनके समन्वयकी अद्वितिय मिसाल रूप ग्रंथ है ।

इस शोध प्रबंधमें मैंने मानसमें निहित भक्ति-दर्शन युक्त प्रकरणों, संवादों विचारों, तथा सिद्धांतोंका अनुशीलन करनेका प्रयत्न किया है । जो मनुष्य युग के प्रभाव के कारण केवल भौतिकवाद में डूबे हुए हैं, ऐसे मनुष्य के आत्मबोध को जगाने में यदि यह शोधप्रबंध किसी भी रूप से निमित्त बनेगा तो मेरा यह साहित्यिक और आध्यात्मिक श्रम सफल होगा । यह शोध प्रबंध विद्या पिपासुओं के लिए यत्किंचित भी मार्गदर्शनरूप बनेगा और विद्वान गुणीजनों को तुष्ट करनेवाला सिद्ध होगा तो मेरे लिए आनंद का अवसर होगा ।

अस्तु

ॐ सर्वात्मने नमः